अहिंसा का गांधी दर्शनः एक आलोचना

लेखक : डॉ. शंकर शरण



“शोध संचयन”
Vol-3, Issue-1
15 Jan 2012

अहिंसा का गाँधी दर्शन : एक आलोचना

विषय संकेत:-
गाँधी दर्शन, अहिंसा, हिन्द स्वराज

भारतीय राजनीति ने अपनी संघर्ष-यात्रा के अनुभव से अनेक राजनैतिक सिद्धांत निगमित किये हैं। उन्हीं में एक सिद्धांत 'अहिंसा' का है। प्रस्तुत आलेख में गाँधीजी की पुस्तक 'हिन्द स्वराज' के माध्यम से उनके समकालीन राजनैतिक परिस्थितियों, विचारों, दर्शनों के आलोक में 'अहिंसा' का परीक्षण करते हुए उसके दार्शनिक-राजनैतिक सिद्धांत के संभावना की गहरी छानबीन की गयी है।

जो यह समझता है कि बर्फ के ऊपर कम्बल लपेट कर उसे गरमाया जा सकता है वह कुछ देर बाद देखेगा कि बर्फ का ठंढापन कम्बल से और भी सुरक्षित हो गया है।

- रवीन्द्र नाथ टैगोर

यह दर्शन जो सभी कर्मों पर एक ही मशीनी नियम लागू करता है अथवा एक शब्द लेता है और उसमें सारे मानव जीवन को बैठाने का प्रयास करता है, वह निरर्थक है। एक योद्धा की तलवार न्याय और सदाचार की पूर्ति के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी कि एक संत की धार्मिकता। शिवाजी के बिना रामदास पूर्ण नहीं हैं। न्याय की रक्षा करने तथा उसे छीनने और निर्बल को दबाने से बलवान को रोकने के लिए ही क्षत्रिय बनाया गया।

- श्री अरविन्द

वर्ष 2009 में भारत में असंख्य पत्र-पत्रिकाओं, सरकारी संस्थाओं द्वारा गाँधी जी के ***हिन्द स्वराज*** की शती मनायी गई। अधिकांश लेखों, भाषणों में लगभग एक जैसी बातें दुहराई गई, यह एक महान रचना है, कि सारी दुनिया गाँधीजी की अहिंसा का लोहा मान गई है, या मान रही है। किसी ने इस भगवान बुद्ध के बाद कहे गए सबसे मूल्यवान वचन कहे तो किसी ने इसे 'सामाजिक अध्यात्म' का नया दर्शन बताया। एक बड़े गाँधीवादी विद्वान ने तो अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को मिले नोबल पुरस्कार को भी अहिंसा से जोड़कर देखा। दुनिया में किन-किन बड़े लोगों ने इस पुस्तक का नाम लिया या तारीफ की, यह दुहराना भी कोई नहीं भूला।

देश के विचार-विमर्श की यह स्थिति अत्यंत शोचनीय है। यह 1920-80 के बीच के सोवियत संघ की झलक देती है। जब लेनिन या लेनिन के लिखे-बोले गए शब्दों के बारे में सोवियत तथा दूसरे कम्युनिस्टों द्वारा स्वयं ही की जाती रही अतिरेकी प्रशंसा, और उसी के दुहराव को ही रूसी लेखक, पत्रकार, शिक्षाविद् और नेता लेनिनवाद की महानता का अकाट्य प्रमाण समझते थे। लेनिन के विचारों के गुण-गान को ही विद्वत् लेखन भी माना जाता था। 1947 के बाद के भारत में गाँधी या नेहरू की विरासत के बारे में विमर्श की स्थिति उससे अधिक भिन्न नहीं रही है। चाहे यहाँ किसी तानाशाही सत्ता से भय का वह कारक न हो, किंतु गाँधी-नेहरू का नियमित सरकारी प्रचार, उन की स्वयंसिद्ध वैचारिक महानता का (अंध)विश्वास, सत्ता और संस्थानों से किंचित लाभ-यश की आस और प्रतिकूल दृष्टि से बचने की चाह -यह सब यहाँ के विद्वत्-जगत में भी प्रचलित है।

अधिक दिन नहीं हुए, जब हमारे अनेक गाँधीवादी लेखक और शोध-कर्ता गाँधी

और मार्क्स के विचारों में साम्य ढूँढ़ा करते थे। उस पर पूरी पुस्तकें तक लिखी गई। आज वह लेखन-स्वर लुप्त क्यों हो गया। अब बरसों से किसी गाँधीवादी को वह सब कहते नहीं सुना गया, जो वर्ष 1991 तक सुना जाता था। अथवा सुनी-सुनाई के मतिशून्य दुहराव से प्रभावित थीं।

उसी का दूसरा पक्ष यह है कि गाँधी-नेहरू के सिवा एक से एक समकालीन भारतीय महापुरुषों के गुरु-गंभीर विचारों, प्रखर, मौलिक और विचारोत्तेजक चिंतन को विस्मृत किया जा चुका है। जस्टिस रानाडे, स्वामी दयानंद, बंकिमचंद्र, विवेकानंद, तिलक, मदन मोहन मालवीय, स्वामी श्रद्धानंद, लाला लाजपत राय, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, के. एम. मुंशी, वीर सावरकर, राम मनोहर लोहिया आदि जैसे कुछ नाम सहज ध्यान में आते हैं। इनमें से कुछ का अकेला दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक या शैक्षिक चिंतन गाँधी और नेहरू दोनों को मिलाकर देखने पर भी भारी पड़ता है। पर उन नामों में से कुछ तो नई पीढ़ियों के लिए बिल्कुल अपरिचित से हो चुके हैं। जिनसे परिचय बचा हुआ भी है तो उसमें सत्ता या शैक्षिक संस्थानों का कोई योगदान नहीं है तथा वह परिचय भी अति-सीमित है।

अत: यहाँ गाँधी जी की महानता के स्वयंसिद्ध स्वरूप में नेहरूपंथी सत्ता-प्रश्रय का सबसे बड़ा अवदान है। वे इसका उपयोग अपनी अनैतिक किस्म की सेक्यूलर राजनीति को वैध ठहराने में करते रहे हैं। उन्हें इस विडंबना की परवाह नहीं कि गाँधी विचार - ''धर्म से पृथक की हुई राजनीति लाश के समान है, जो केवल दफना देने योग्य होती है''- से उनकी राजनीति घोर पातक है। साथ ही, वह गाँधी की आड़ में दूसरे सभी महत्त्वपूर्ण विचारों, मनीषियों को तहखाने में दबा रखने का काम सफलतापूर्वक करते रहे हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि गाँधी के (कहीं-कहीं नेहरू के भी) उन सभी विचारों को कदापि याद तक नहीं किया जाता, प्रचारित करना तो दूर रहा, जो उनकी विशिष्ट सेक्यूलरवादी राजनीति के लिए असुविधाजनक जान पड़ता हो। जैसे, ऊपर अभी उद्धृत की गई बात। इसी प्रकार चर्च-विस्तारवाद और संगठित धर्मांतरण के विरूद्ध गाँधी के सुचिंतित, विस्तृत विचारों को, आज नितांत प्रासंगिक होने पर भी, सावधानीपूर्वक छिपा रखना इसका एक उदाहरण है। गैर-सरकारी गाँधी संस्थान भी यही करते हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अवदान स्वयं पश्चिमी समर्थन का है जो गाँधी का उपयोग कई मामलों में अपने स्वार्थों, दुराग्रहों को भारत पर थोपने में करता है। यह संयोग नहीं कि कई पश्चिमी लेखकों और नेताओं ने गाँधी में 'ईसा की झलक' देखी है। अमेरिकी पादरी जे. एच. होम्स ने तो उन्हें 'दूसरा ईसा मसीह' ही कह दिया था। पर भारत में गाँधी की महानता की सहज स्वीकृति के बावजूद किसी ने उनमें राम, कृष्ण या बुद्ध की भी झलक नहीं देखी। क्या यह महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जो लोग गाँधी को मिले पश्चिमी प्रचार और श्री अरविन्द से लेकर लोहिया और अटल बिहारी वाजपेई तक के राजनीतिक नकार या उदासीनता को अनायास समझते हैं वे अंतर्राष्ट्रीय सभ्यतागत राजनीति और सामी (सेमेटिक) मजहबों की साम्राज्यवादी भावना के प्रति भोले हैं।

वैसे भी, पश्चिमी महानुभावों द्वारा गाँधी की प्रशंसा की बौद्धिक तौल-परख हो सकती है। जहाँ तक अलबर्ट आइंस्टीन ने गाँधी के बारे में जो कहा था अथवा लॉर्ड लोथियान सेवा-ग्राम गए थे तो उन्होंने ***हिन्द स्वराज*** की प्रति माँगी थी- ऐसी बार-बार दुहराई जाने वाली उक्तियों की बात है, तो यह भक्त अनुयायियों को ही संतुष्ट कर सकती है। इनसे वस्तुत: कुछ प्रमाणित नहीं होता। उलटे दुहराने वाले की वैचारिक दुर्बलता ही प्रदर्शित होती है। क्योंकि उनके समक्ष गाँधी के बारे में कठोर, सुचिंतित बातें कहने वाले वैसे ही अनेक महापुरुषों की उक्तियाँ उद्धृत करें तो किस का निष्कर्ष सही था, यह देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, यदि गाँधी के प्रति लॉर्ड बावेल, लॉर्ड लिनलिथगो, लॉर्ड वेलिंगटन, मौटेग्यू या श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, गोखले, डॉ0 अंबेदकर, लोहिया प्रभृत महापुरुषों के विचारों को सामने रखें तो इन पर क्या रुख होना चाहिए, स्पष्ट होगा। क्योंकि पद आदि की दृष्टि से विचारकों का वजन वही है, कइयों का अधिक भी, और इनमें अनेक को गाँधी के साथ सतत विमर्श और काम का अनुभव भी था। अत: विदेशी-देशी हस्तियों, लेखकों या नेताओं की गाँधी-प्रशंसा से कोई वैचारिक तत्त्व नहीं उपलब्ध होता।

आज के प्रसंग में, चिंता का बिंदु तब आता है जब वैसे अनुयायी अपने संप्रदाय की दृष्टि को ही वास्तविक विद्वत् आकलन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। ***हिन्द स्वराज*** की देश-व्यापी चर्चा में जाने-अनजाने यही हुआ। जबकि अकादमिक, बौद्धिक अथवा शैक्षिक चर्चा तभी उपादेय व सार्थक हो सकती है जब वह किसी विचारणीय विषय को हर कोण से देखने के लिए खुली हो, मुक्त आलोचना के लिए तैयार हो।

अतएव, पहला प्रश्न यह उठता है कि ***हिन्द स्वराज*** और उसके संदेश की गम्भीर आलोचनाओं को चर्चा के लिए क्यों नहीं उठाया जाता है, केवल जय-जयकार ही क्यों किया जाता है, जबकि उन आलोचनाओं में से कुछ की चर्चा स्वयं उस पुस्तक की महादेव भाई द्वारा बाद में लिखित भूमिका में ही है। वे आलोचनाएँ कितनी गम्भीर और सामयिक हैं, उन्हें पढ़ते ही समझा जा सकता है। स्वयं गाँधी ने चाहे किंचित अहं-भाव से ही सही, उन आलोचनाओं को नोट किया था। मूल गुजराती ***हिन्द स्वराज*** का नया अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित (1938) होने पर दिए गऐ संदेश में वे कहते हैं कि इस पुस्तक ''के विरूद्ध दूसरे पलड़े में रखने के लिए मेरे एक स्वर्गीय मित्र की यह राय भी जान लें कि 'यह एक मूर्ख आदमी की रचना है'।'' संक्षिप्त अंदाज में रखे इस बात से पाठक को संदेश मिलता है कि वह तुच्छ आलोचना थी। आज प्रश्न यह नहीं है कि ***हिन्द स्वराज*** के दूसरे पलड़े पर रखने के लिए क्या पर्याप्त था, बल्कि यह कि आज दूसरा पलड़ा ही क्यों लुप्त कर दिया गया है।

यह भी एक विडंबना है कि अधिकांश गाँधीवादी अपनी चर्चा में ***हिन्द स्वराज*** की आलोचनाओं की चर्चा भी करते हैं और उसे आंशिक रूप से मौन स्वीकार करते भी जान पड़ते हैं, वास्तव में वे उस पुस्तक के मूल्यवान अंश हैं, अर्थात् गाँधी द्वारा की गई यूरोपीय सभ्यता और उसकी देन की भरपूर भर्त्सना, बिटिश संसद, रेल, वकील और डॉक्टरों की भूमिका की निंदा, भारत में अंग्रेजी शिक्षा के हानिकारक प्रभाव आदि। यह भी गाँधीवादियों की दुर्बल दृष्टि का परिचायक है कि वे ***हिन्द स्वराज*** की उन आलोचनाओं का उल्लेख करते हैं जिन्हें वे मामूली बात मानते हैं। जबकि वही अंश ***हिन्द स्वराज*** के सशक्त पक्ष हैं। उसी में गाँधी अपनी धर्म-अर्धर्म भेद दृष्टि से पश्चिमी सभ्यता की एक मौलिक समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर, गाँधी के जो अनुयायी उसका महत्त्व समझते हैं वे उसी पर अपने को केंद्रित रखते हैं - मानों पश्चिमी सभ्यता की आलोचना ही गाँधी दर्शन का मूल या अत्यंतिक पक्ष था। वे गाँधी विचार के दूसरे तत्त्वों, जो दर्शन से लेकर अर्थशास्त्र और राजनीति तक बहुतायत से दिए और प्रयोग किए गए, उन पर विचार ही नहीं करते।

इस प्रकार, ***हिन्द स्वराज*** और कुल मिलाकर गाँधी दर्शन के वास्तविक दुर्बल पक्ष पर शायद ही कभी चर्चा होती है। 1930 के दशक में उनकी आलोचनाओं की शक्ति महादेव भाई ने महसूस की थी। इसीलिए उन्होंने उसे नोटकर यथासंभव उत्तर देने का प्रयास किया था। वे आलोचनाएँ गाँधी जी द्वारा पश्चिमी सभ्यता या रेल, डाक्टर, वकील के मूल्यांकन पर नहीं-बल्कि अहिंसा और चर्खे के सिद्धांत एवं उपयोग से संबंधित थीं। स्वयं गाँधी के गुरु गोखले से लेकर विद्वान जी.डी.एच कोल, अध्यापक सार्डी, मिडलटन मरी, डिलाइल बर्न्स तथा इरनी रैथबोन की आलोचनाएं महादेव भाई ने विस्तार से उद्धृत कर उनकी काट करने या प्रयत्न किया था।

यदि जी.डी.एच कोल और इरीन रैथबोन की आलोचनाओं पर विचार करें, तो स्पष्ट दिखेगा कि वे कितनी सटीक थीं और आज भी हैं। वही बिन्दु गाँधी के वास्तविक-दार्शनिक और राजनीतिक-मूल्यांकन के क्षेत्र थे। विशेषकर सौ वर्ष बीतने के बाद अनुभवों के आलोक में उन आलोचनाओं का पुरावलोकन करना विचार-विमर्श में सबसे अधिक उपयोगी हो सकता है। उन सबसे कतरा कर ***हिन्द स्वराज*** अथवा गाँधी दर्शन की पूरी चर्चा व्यर्थ एवं समय का अपव्यय मात्र है।

मूल संदेश-

वस्तुतः यह भी एकपक्षीय दृष्टि है कि ***हिन्द स्वराज*** में पश्चिमी सभ्यता के विरूद्ध भविष्य के भारतीय स्वराज का खाका पेश किया गया है। यह उसमें हैं, किन्तु साथ ही वह अहिंसा के गाँधी सिद्धांत की सविस्तार प्रस्तुति भी है। गंभीरता से विचार

करें तो दिखेगा कि यही उस पुस्तक का मूल आधार है, जिस पर गाँधी अपने सपने के स्वराज्य या सभ्यता की इमारत बनाते हैं। इसी नींव पर ही पुस्तक में विचारित सभी विषय खड़े हैं - सभ्यता का दर्शन, भारत के पराधीन होने के कारण, यूरोपीय जीवन पद्धति, वहाँ की संसदीय राजनीति, हिन्दू-मुस्लिम संबंध, अग्रेजी शिक्षा की हानियाँ आदि। इनमें सभी के सभी दार्शनिक नहीं, बल्कि कई राजनीतिक विषय हैं। इसे भुला दिया जाता है कि उसे एक सक्रिय राजनीति-कर्मी व पत्रकार ने लिखा था, दार्शनिक ने नहीं, किंतु जिस विचार को पुस्तक में आदि से अंत तक अविच्छिन्न आग्रह के साथ रखा गया, वह है अहिंसा-सत्याग्रह का सिद्धांत। स्वयं गाँधी जी के शब्दों में, ***हिन्द स्वराज*** -'हिंसा की जगह आत्म-बलिदान को रखती है। पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्म-बल को खड़ा करती है।'' यही पुस्तक का मुख्य आधार है।

यह विडंबना है कि गाँधी की विश्व-विख्याति हिंदू महात्मा के रूप में हुई पर अहिंसा पर उनके विचार नितांत अ-हिन्दू, अ-भारतीय थे। भारतीय शास्त्रों या लोक में कहीं उसकी अनुशंसा नहीं मिलती। यह संयोग नहीं कि महादेव भाई ने समर्थन के लिए बुद्ध और ईसा मसीह का ही नाम लिया जो पश्चिमी दृष्टि, जिससे ही हमारे बौद्धिक भी देखते हैं, उस दृष्टि से भी अ-हिन्दू रिलीजन माने जाते हैं। (बुद्ध चिंतन हिन्दू दर्शन का ही एक अंग है, इसे कहने वाले कहाँ हैं) महादेव भाई किसी हिन्दू परंपरा के मनीषी, महापुरुष या शास्त्र का नाम नहीं दे सके। यही बात पुस्तक में भी झलकती है। यह वर्तमान गाँधीवादियों का भगोड़ापन ही है कि उन्होंने ***हिन्द स्वराज*** के मूल सिद्धांत पर समकालीन भारतीय मनीषियों की आलोचनाओं को भी तौलने, मनन करने, और नहीं तो कम से कम पिछले सौ वर्ष के ऐतिहासिक अनुभवों की कसौटी पर भी परखने का कष्ट नहीं किया।

हिन्द स्वराज की भूमिका में गाँधी ने स्वयं लिखा है कि इसमें वर्णित विचार कुछ पुस्तकों को पढ़कर बने हैं। वे पुस्तकें मुख्यत: लेव टॉल्सटॉय, रस्किन और थोरो जैसे चिंतकों की थी। ***हिन्द स्वराज*** के अंत में बीस पुस्तकों की सूची भी है। इस सूची में दी गई दार्शनिक पुस्तकें सभी विदेशी पश्चिमी चिंतकों की हैं। भारतीय[1] मनीषा के किसी ग्रंथ को उस सूची में स्थान नहीं मिला है। यहाँ तक कि गीता और रामचरितमानस को भी नहीं, जिन्हें गाँधी सदैव अपना मार्गदर्शक मानते थे; बुद्ध बचनों की किसी पुस्तक को भी नहीं।

गाँधी अहिंसा सत्याग्रह को भारत का विशेष दर्शन कहते थे, जिसे ***हिन्द स्वराज*** में सरलता से प्रस्तुत करने का उनका दावा था। तब उस चिंतन को ''और विस्तार से समझने'' की दृष्टि से दी पुस्तक सूची में किसी भारतीय दार्शनिक या मनीषी की पुस्तक का नाम क्यों नहीं है! क्या इसीलिए कि ***हिन्द स्वराज*** के केंद्रीय संदेश की पुष्टि इनसे नहीं होती, बल्कि उलटे यह संदेश उस विषय पर महाभारत या रामायण समेत भारतीय चिंतन विरासत से विपरीत पड़ता है, यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है। विशेषकर, जब अहिंसा के गाँधी सिद्धांत को हिन्दू भाव से जोड़कर देखा जाता है। स्वयं गाँधी ने यह किया है। उदाहरण के लिए, ''हमारे शास्त्रों में जीवन के उपहार को सबसे मूल्यवान माना गया है।'' (20 मार्च 1916, गुरुकुल में भाषण)। यह गाँधी तब के ब्रिटिश शासकों पर कभी शारीरिक प्रहार न करने के अपने आवाहन के पक्ष में दलील देते हुए कह रहे हैं कि इससे आपसी विश्वास पैदा होगा, तब खुल कर बात-चीत होगी और हमारी कई समस्याओं का समाधान हो जाएगा। यानी, अहिंसा से समस्याओं का हल होगा, इसके लिए गाँधी 'हमारे शास्त्रों' का वजन देते है, पर वे कौन से शास्त्र हैं।

अतएव ***हिन्द स्वराज*** का मुख्य संदेश हर स्थिति में अहिंसा की पैरोकारी है। अहिंसा और प्रेम। यह हू-ब-हू टॉल्सटॉय का दर्शन है जिन्हें गाँधी अपना गुरू मानते थे। ***हिन्द स्वराज*** के अंत में दी गई पुस्तक सूची में छ: पुस्तकें केवल टॉल्सटॉय की हैं। टॉल्सटॉय का प्रसिद्ध लेख ''क्या करें''(1906) पढ़ें तो बिलकुल स्पष्ट हो जाएगा कि ***हिन्द स्वराज*** में प्रस्तुत अहिंसा और प्रेम को हर हाल में सब रोगों की एक दवा मानना उपनिषद, महाभारत, नीतिशतक, अर्थशास्त्र आदि किसी भारतीय मनीषा का नहीं बल्कि टॉल्सटॉय का अनुकरण है। चाहे मात्र शब्दों में। क्योंकि व्यवहार में गाँधी टॉल्सटॉय के सच्चे शिष्य नहीं, बल्कि उन्होने एक महत्त्वाकांक्षी राजनीतिक नेता का आचरण रखा था।

अर्थात् व्यावहारिक कार्यक्रम बनाने में दाँव-पेंच, लाभ-हानि, आगा-पीछा, मोल-भाव, सत्य-अर्द्धसत्य आदि का उपयोग, ताकि समय के अनुरूप अपेक्षित राजनीतिक फल पया जा सके। इसीलिए प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश सरकार को भारतीय सैनिकों की आपूर्ति कराने पर गाँधी उसके साथ थे। यहाँ तक कि वे सरकार की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि उसने भारतीयों को सैनिक-शिक्षा से वंचित रखा, नहीं तो अभी उसके पास और सैनिक होते! इसे वे अंग्रेजों का 'दोष' बताते हैं।[2] इतना ही नहीं, अहिंसा की वैसी एकांतिक पैरोकारी करते रहने के बाद गाँधी ने अंग्रेजी सेना (जो साम्राज्य विस्तार, लूट और दमन के लिए ही थी) में भारतीय सैनिकों की भर्ती कराने के काम को परम उत्साह से, उच्च प्राथमिकता देकर किया था।

बल्कि दक्षिण अफ्रीका से भारत आने के बाद (1915) गाँधी का पहला सबसे बड़ा राजनीतिक अभियान यही था। वह भी तब जबकि कांग्रेस यह नहीं चाहती थी। जिन्ना को गाँधी से पहला जबर्दस्त धक्का इसी बिंदु पर लगा था। कांग्रेस और होमरूल लीग के प्रखर नेता के रूप में तब जिन्ना ब्रिटिश सरकार पर भारत को डॉमीनियन स्टेट्स देने के लिए दबाव बनाना चाहते थे। राजनीतिक वातावरण भी अत्यंत अनुकूल था, जबकि गाँधी दबाव के बदले सरकार को सहयोग देने के लिए कांग्रेस को सैनिक-भर्ती अभियान में लगाना चाहते थे। इस के पक्ष में जोरदार बयान देने का आग्रह करते हुए उन्होंने जिन्ना को पत्र लिखा (4 जुलाई 1918) - ''क्या आप नहीं देखते कि यदि प्रत्येक होम-रूल कार्यकर्ता सैनिक भर्ती की संभावित एजेंसी बन जाए, जबकि साथ ही संवैधानिक सुधार के लिए संघर्ष भी करता रहे, तब हम कांग्रेस-मुस्लिम लीग की योजना पारित करा सकते हैं,'' इसके बाद बाइबिल की लेखन शैली में गाँधी जोड़ते हैं ''पहले तू भर्ती दफ्तर की चाह कर, और फिर सब कुछ तेरे पास आ जाएगा।'' स्पष्टत: प्रलोभन दिया जा रहा है कि सरकार की मदद करके इच्छित वस्तु प्राप्त की जा सकती है।

इस उत्साह और विश्व-युद्ध लड़ने के खुले उद्देश्य से, अंग्रेजी सेना के लिए सैनिक भर्ती कराने का काम टॉल्सटॉय के लिए अकल्पनीय होता! दार्शनिक छोड़िए, राजनीतिक तर्क से भी नहीं। इतना ही नहीं, गाँधी इस के लिए तब उत्साहित थे, जब कांग्रेस और भारतीय जनता उस समय सेना में भर्ती के लिए तनिक भी इच्छुक न थी। जब गाँव-गाँव जाकर सेना में भर्ती होने के लिए लोगों से गाँधी आग्रह करते, तो लोग उन्हें ताना देते थे कि अहिंसा के पैरोकार होकर वह अंग्रेजों की सेवा में भारतीयों को ले जाने के लिए क्यों उत्सुक हो रहे हैं! अपनी आत्मकथा 'एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ' में गाँधी ने अपने शब्दों में लिखा- ''मेरी आँखें तब खुली जब मैंने काम शुरू किया। मेरी आशाओं को करारा झटका लगा। हम जहाँ जाते, मीटिंग करते। लोग आते, मगर मुश्किल से एक या दो भर्ती होता। 'आप तो अहिंसा के समर्थक हैं, तब हमें हथियार उठाने को क्यों कह रहे हैं। सरकार ने हमारे लिए क्या किया है जो हम उसकी मदद करने जाए', हमसे ऐसे प्रश्न पूछे जाते थे।'' यानी सरकार की मदद करके राजनीतिक लाभ उठाने के लिए गाँधी सैनिक भर्ती करा रहे थे। यह टॉल्सटॉय का अनुकरण नहीं हो सकता था और ***हिन्द स्वराज*** में दस वर्ष पहले रखी गई सभी दलीलों के विरूद्ध था। यह गाँधी के मूलत: राजनीतिक नेता होने का एक प्रमाण है, जिन्होंने समाज या व्यक्ति द्वारा अवसर अनुरूप शस्त्र प्रयोग के पक्ष में 1917-18 के दौरान कही गई अपनी बातें[3] फिर कभी नहीं दुहराई। इस के पीछे कोई दार्शनिक कारण समझना अपनी भावना का गाँधी पर आरोपण होगा।

कुछ लोग मानते हैं कि गाँधी ने भारतीय जनता की प्रवृत्ति को देखते हुए अहिंसा के सहारे उसे उठाने का उपाया सोचा था। यद्यपि गाँधी ने शायद ही कहीं ऐसा कहा हो। किंतु पहले तो यह तर्क अनजाने ही गाँधी को मिथ्याचारी में बदल देता है, जिन्होंने अहिंसा का केवल तात्कालिक उपयोग किया जो एक सिद्धांत या दर्शन होने से भिन्न चीज है। दूसरे, इस का कोई पक्का प्रमाण नहीं दिया जाता कि भारतीय जनता सदैव भीरु थी। प्रथमत: ब्रिटिश सेना में बड़ी संख्या में भारतीय सैनिक थे जिनकी वीरता दुनिया भर में प्रतिष्ठित थी। दुसरे, 1917-18 में सेना में भर्ती न चाहने के पीछे भीरुता नहीं, सरकार से रूष्टता झलकती है। तीसरे, गाँधी अपने भाषणों में बंग-भंग आंदोलन (1905-09) के क्रांतिकारियों (अनुशीलन समिति आदि) द्वारा हथियारों के प्रयोग की भर्त्सना करते हैं। यानी, 1857

ही नहीं, ठीक गाँधी से पहले हुए सबसे बड़े राजनीतिक आंदोलन में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध हथियार उठाकर लड़ा गया था। अलीपुर बम केस जैसे मुकदमों द्वारा सरकार उन्हीं क्रांतिकारियों से निपट रही थी जिन्हें वह 'बहुत बड़ा खतरा' समझती थी।

इस प्रसंग में 6 फरवरी, 1916 को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में गाँधी द्वारा दिए गये व्याख्यान की घटना वास्तविकता का पता देती है। उसमें बोलते-बोलते गाँधी आंदोलनकारियों और देशभक्तों द्वारा बम आदि के प्रयोग की निंदा करते हैं। साथ ही गाँधी उन्हीं देशभक्तों को 'डरपोक' बताते हैं जो 'बाहर निकलने से डरता है'। साथ ही गाँधी सरकार द्वारा बंग-भंग वापस लिए जाने में उन सशस्त्र कार्रवाइयों की भूमिका कम करके दिखाना चाहते हैं। यह सब सुनकर श्रोताओं में तीखी असहमति और विरोध से सभा गड़बड़ होनी शुरू हो जाती है। फिर आगे जब गाँधी भारत में अंग्रेज अधिकारियों के गलत आचरण और अत्याचार करने आदि का दोष भारतवासियों को ही देने लगते हैं 'जिनके साथ रह कर वे वैसे बन गए हैं जैसे पहले नहीं थे- तब सभा इतनी गड़बड़ होने लगती है कि उसे वहीं विसर्जित कर देना पड़ता है। 1916 की यह घटना, जब गाँधी को भारतीय राजनीति में आए कुछ महीना ही हुआ था, दिखाती हैं कि अहिंसा और अंग्रेजों के मूल्यांकन पर भारतीय जनता के विचार वे नहीं थे जो गाँधी के थे।

अत: यह कहना कई अर्थों में एक बहुत बड़ी प्रवंचना है- और 1905-10 के बीच चले सशत्त स्वदेशी आंदोलन का अपमान भी- कि गाँधी से पहले ''भारत के लोग गिरे-पड़े थे जिन्हें उन्होंने उठाया'' (सुशीला नायर, प्रभु नारायण राय)। सच्चाई यह है कि लोग उठ कर खड़े हो चुके थे, कुछ करना चाह रहे थे, तभी गाँधी पहुँचे। उन्हें बंग-भंग के विरोध में हुए स्वदेशी आंदोलन और उसकी सफलता से बनी-बनाई राजनीतिक जमीन मिली थी। नहीं तो, 1920 के उस बयान कि 'एक वर्ष में स्वराज्य ले लेंगे' की संगति जनता के 'गिरे-पड़े' होने से कैसे बैठ सकती है। वस्तुत: उसी काल में श्री अरविन्द, लोकमान्य तिलक, बिपन चंद्र पाल, फिरोजशाह मेहता, लाला लाजपत राय जैसे कई लोगों के राजनीति से दूर हो जाने या निधन से नेतृत्व विरल हो गया था। तब लोगों ने गाँधी में संघर्ष में उन्हें नेतृत्व देने वाला एक नया वीर देखा। लोग गिरे-पड़े नहीं थे। वे एक बड़ी लड़ाई लड़कर जीत चुके थे, जब गाँधी का आगमन भी नहीं हुआ था। 1919 के राजनीतिक सुधार, पिछली लड़ाई के बाद की गई ब्रिटिश समीक्षा का भी परिणाम था।

अत: विचारणीय तो यह है कि क्या कांग्रेस नेतृत्व में गाँधी के जमने के बाद अहिंसा-सत्याग्रह के तरह-तरह के संदर्भहीन, बेमेल ('गाँधी-खलीफत एक्सप्रेस'), अबूझ प्रयोग से कहीं वही लोग संभ्रमित, दोहरे, अनिश्चित, कई बार किंकर्तव्यविमूढ़ और अंतत: सदैव ऊपर (गाँधी) का मुँह ताकने वाले तो नहीं बन गए। फिर इस पर भी ध्यान दें, जब गाँधी कहते थे कि अहिंसा के लिए देश तैयार नहीं है, तो स्पष्टत: अर्थ है कि लोग आवश्यकता पड़ने या मौका मिलने पर हिंसा का प्रयोग करना ठीक समझते थे। इसलिए, जनता के भीरू होने के कारण गाँधी द्वारा अहिंसा के उपयोग का तर्क किसी तरह ठीक नहीं बैठता।

फिर भी, '***हिन्द स्वराज*** में अहिंसा की जैसे-तैसे' हर हाल में पैरोकारी ही उस पुस्तक की वह चीज है जिसमें गाँधी जी मौलिक हैं। चाहे यह मौलिकता कई स्थलों पर हास्यास्पद हो गई है। जब गाँधी हर मामले में अहिंसा को ही उपाय बताना चाहते हैं जैसे 'चोर को किसी भी तरह से, यानी मार-पीट कर' यानी हिंसा का सहारा लेकर भी घर से निकाल बाहर करने की इच्छा का विरोध वे इन शब्दों में करते हैं- ''मान लो मेरा पिता मेरे घर में चोरी करने आ जाए तो........... ''(अध्याय 16)। ऐसी नितांत अस्वभाविक बात को प्रथम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना हास्यास्पद ही नहीं, तर्ककार की भारी दुर्बलता का भी प्रमाण है। घर में चोरी करने घुसे चोर को क्यों डंडे मार कर नहीं भागना चाहिए, इसके लिए यदि कोई चोर को 'पिता रूप में प्रस्तुत करे तो स्पष्ट है कि उसके पास कोई मजबूत तर्क नहीं है। इसीलिए वह पिता के प्रति सहज सम्मान भावना का दुरुपयोग करने के लिए चोर को पिता बना देता है, कि बच्चू! अब तो मानो कि तुम्हें चोर को पीटना नहीं चाहिए। किंतु यह कोई तर्क नहीं हुआ। यह तो भावनात्मक रूप से दोहन करना हुआ जिससे कि वह चुप हो जाए।

हिन्दु मुसलमान के झगड़ों में गाँधी वे तर्क देते हैं जो सामान्य, शांतिपूर्ण गाँव या मुहल्ले में दो व्यक्तियों के बीच के संबंध के लिए सही है। उसे विश्व-राजनीतिक, सभ्यतागत विभेदों और महत्वाकांक्षाओं से पैदा हुई आक्रामकता के संदर्भ में उपयोग करना निरा भोलापन या जान-बूझ कर किया गया गड्ड-मड्ड है। परिणामों की दृष्टि से ऐसा करना अक्षम्य है। पर ***हिन्द स्वराज*** और संपूर्ण गाँधी दर्शन ऐसे मिस-फिट तर्कों से भरा मिलता है।

दरअसल, ***हिन्द स्वराज*** में ठीक अहिंसा के पक्ष में दिए गए तर्क ही सबसे सतही है, जो स्वयं गाँधी के शब्दों में उसका केन्द्रीय संदेश है। पूरी पुस्तक प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है। पर ध्यान रहे, उस में प्रश्न-कर्ता कोई जाना-माना 'दूसरा' नहीं है, जिसके प्रश्नों और शंकाओं का उत्तर दे-देकर गाँधी अहिंसा और प्रेम को स्थापित कर रहे हैं। पहली दृष्टि में ऐसा भ्रम हो सकता है। किंतु वस्तुत: वह प्रश्न भी गाँधी के ही चुने या रचे हुए हैं। उन्होंने वास्तव में किसी तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द, कर्तार सिंह सराभा, उधम सिंह या चंद्रशेखर आजाद के चर्खा या अहिंसा संबंधी आपत्तियों को नहीं लिया। उदाहरण के लिए, श्रीअरविन्द के ही विचारों को लिया गया होता अथवा बाद में चर्खे को अपनी अर्थ-नीति का आधार बनाने के विरुद्ध रवीन्द्रनाथ टैगोर की विस्तृत आलोचना को लिया गया होता तो गाँधी के लिए प्रश्नोत्तर भारी पड़ता। तब गाँधी 'चोर यदि तुम्हारा पिता हो 'जैसी कठदलीली भी नहीं कर पाते।

कोई कल्पना कर सकता है कि यदि घर में चोर घुस आने वाली स्थिति के बजाए प्रश्न यह रखा जाए कि 'कोई घर में घुस कर किसी स्त्री के साथ बलात्कार कर रहा हो......' तब इसका अहिंसात्मक समाधान क्या दिया जाएगा, निश्चय ही चोर वाले उदाहरण, जिसे गाँधी ने ***हिन्द स्वराज*** में खूब लंबा खीचा है, में दिए गए सभी उत्तर न केवल इस में निरर्थक हो जाएंगे, बल्कि बलात्कार वाले मामले में कोई यह दलील कि उत्पीड़न बंद न कर दे.......'' देने की बेशर्मी भी नहीं करेगा। बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा वाले उदाहरण में भी उनमें से कोई तर्क नहीं चलेगा।

दूसरी ओर यह भी विचित्र तथ्य है कि स्वयं गाँधी ने व्यावहारिक राजनीति में कई बार, बोअर युद्ध और प्रथम विश्वयुद्ध में, अंग्रेजों के लिए भारतीय सैनिकों की भर्ती कराने में, 1921 (खिलाफत), 1942, 1946, 1947 के आंदोलनों में कोई निर्णय लेते हुए हिंसा-अहिंसा की चिंता नहीं की थी। 'भारत छोड़ो' (1942) आंदोलन जिस परिस्थिति में गाँधी ने छेड़ा था, उसमें उन्होंने स्वयं संकेत दिया था कि भरपूर हिंसा होगी। आखिर 'करो या मरो' का संदर्भ क्या था? क्या, आगे भी, डॉ0 राममनोहर लोहिया ने ठीक भयंकर हिंसा होने की संभावना की जानकारी के बावजूद देश-विभाजन स्वीकार करने के लिए अत्यंत कटु शब्दों में गाँधी जी की आलोचना नहीं की है?

लोहिया की आलोचना राजनीतिक गाँधी की आलोचना कह दी जा सकती है, पर वह सही नहीं होगा, क्योंकि दोष मूलत: विचारक गाँधी का था। लोहिया भी अप्रत्यक्ष रूप से इसे नोट करते हैं, जब वे कहते हैं कि 1946-47 में गाँधी के आह्वानों में कोई शक्ति या प्रेरणा नहीं रह गई थी, क्योंकि उसमें ''दुविधा झलकती थी''। लोहिया ने ठीक नोट किया था कि दुविधाग्रस्त मन की बातें जनता को प्रेरित नहीं कर सकती थीं। इसीलिए गाँधी के प्रवचन-प्रार्थनाएं बिलकुल निरर्थक और निष्प्रभावी हो गई थी। यह चिंतक गाँधी की दुर्बलता थी, जो राजनीतिक गाँधी की भी बनी। इसे ***हिन्द स्वराज*** में स्पष्ट देखा जा सकता है। गाँधी का दोष इसलिए और गुरुतर हो जाता है कि चार दशक के अनुभव, अवलोकन और अध्ययन के बाद भी वे अपने अहिंसा के दर्शन को ठीक-ठाक नहीं कर सके, न अपने व्यवहार को।

अहिंसा के मुद्दे पर ***हिन्द स्वराज*** में जो प्रश्न रखे गए हैं वह बड़े सतही और सुविधाजनक हैं। प्रश्न भी उनके, उत्तर भी उनके और अंतत: खुद ही स्वयं को शाबाशी भी दे देते हैं। उन स्थलों पर प्रश्नकर्त्ता कहता है कि 'आपने मेरा संदेह दूर कर दिया' 'आपने मुझे कायल कर दिया' आदि। यह देखते हुए कि प्रश्न और उत्तर दोनों गाँधी के द्वारा ही लिखे गए हैं, यह आत्म-प्रशंसा ही है। पर हिंसा और अहिंसा संबंधी अधिकांश प्रश्न और उत्तर, काल्पनिक व हल्के किस्म के हैं, जिससे ***हिन्द स्वराज*** भरा पड़ा है।

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस बिंदु पर गंभीर प्रश्न उठाने वाले किसी वास्तविक व्यक्ति यथा श्रीअरविन्द, चन्द्रशेखर आजाद या डॉ0 अंबेदकर आदि से गाँधी ने कभी संवाद नहीं किया। अवसर आने पर भी वे बचते थे। गाँधीजी श्रीअरविन्द से मिलने पांडिचेरी जाना चाहते थे। इसलिए पहले उन्होंने अपने पुत्र देवदास गाँधी को भेजा। यह संभवतः खिलाफत-असहयोग आंदोलन (1919-22) के समय का प्रसंग है। उस समय भारत पर अफगानिस्तान के संभावित हमले की चर्चा होती थी। यहाँ के कुछ कट्टरपंथी मुस्लिम नेताओं ने अफगानिस्तान के शासक को इस आशय से निमंत्रण भेजा था और खिलाफत आंदोलन के मद्देनजर 'अन्तर्राष्ट्रीय मुस्लिम समुदाय' की आक्रामक एकता का भय भी यहाँ उस चर्चा की पृष्ठभूमि में था। देवदास ने श्रीअरविन्द से अहिंसा पर उनके विचार जानने चाहा। तब श्री अरविन्द ने देवदास से पूछा, ''मान लो, अफगानिस्तान भारत पर आक्रमण कर देता है। तब तुम उसका सामना अहिंसा से कैसे करोगे' लौटकर देवदास ने गाँधीजी को यह बताया। उसके बाद गाँधीजी ने श्रीअरविन्द से मिलने का विचार त्याग दिया[5]।

दरअसल, गाँधी वैसे प्रखर भारतीय नेताओं या मनीषियों से बचते थे जो उन्हे पहले से ही 'महात्मा' मानकर वैचारिक और भावनात्मक रूप से झुकने के लिए तैयार न हों, अथवा जो उन्हें विचार, तर्क या बुद्धि में पराजित कर सकते थे। डॉ0 अंबेदकर ने लिखा है कि गाँधी उनसे बराबरी बरतने वाले भारतीयों के साथ बैठना-विचार करना पसंद नहीं करते थे। हिंसा वाले प्रश्न पर श्री अरविन्द के गीता प्रबंध (एस्सेज ऑन गीता) के संदर्भ में गाँधी ने कहा था कि उनके पास श्री अरविन्द के विचारों (गीता प्रबंध, अध्याय 6, 7) का कोई उत्तर नहीं है। इसके बावजूद उन्होंने अहिंसा पर अपने विचारों से हटना या सुधारना स्वीकार नहीं किया। तब क्या ***हिन्द स्वराज*** का संदेश, जिसे गाँधी ने 1938 में भी यथावत उपयुक्त माना, किसी भोले-भाले, कम जानकारी वाले युवाओं या विदेशियों को प्रभावित करने के लिए थी।

सैद्धांतिक मूल्यांकनः- एक (वांडा दीनोवस्का की दृष्टि में)

गाँधी जी के जीवन काल में ही उनके अहिंसा सिद्धांत की अनेक गुरू-गंभीर आलोचनाएँ आई थी। उनमें से कई गाँधी जी को सीधे संबोधित थीं। ऐसा नहीं लगता कि उनका कोई सुसंगत उत्तर गाँधी दे सके थे। वे आलोचनाएं देशी और विदेशी, दोनो क्षेत्रों से आयीं थी। उनमें से कुछ तो अवलोकन और बौद्धिक विश्लेषण की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान हैं। यहाँ हम उनमें से दो, एक विदेशी और एक देशी, को कुछ विस्तार से ले रहे हैं, न केवल इसलिए कि उनसे नई पीढ़ियों का अवगत रहना आवश्यक है, बल्कि इसलिए भी कि वर्तमान तथा आने वाले लंबे काल तक वह समीचीन रहने वाली है।

वांडा दीनोवस्का (1888-1971) मूलतः पोलैंड की थी। बाद में उन्हें उमादेवी के नाम से जाना गया। उन्हें भगिनी निवेदिता और एनी बेसेंट की उस श्रेणी में रखा जा सकता है जिन्होंने भारत के प्रति प्रेम के वशीभूत होकर इसे अपना देश मान लिया था। वे हिन्दू धर्म-दर्शन से गहरे प्रभावित हुई थीं। उन्होंने यूरोप के दोनों ही महायुद्धकालीन विभीषिकाओं, यहूदियों तथा अन्य राष्ट्रीयताओं पर हुए अत्याचार एवं पश्चिमी जन-जीवन की दूसरी दुर्बलताओं को निकट से देखा समझा था। इसके अतिरिक्त ईसाई और हिन्दू धर्म दर्शन की तुलनात्मक समझ के कारण वांडा दीनोवस्का के विचारों का विशेष महत्त्व है।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान उन्होंने गांधी जी को तीन विस्तृत पत्र[6] लिखे थे। उसमें अहिंसा के प्रश्न की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षा मिलती है। साथ ही, भारत में गाँधी और उनके अनुयायी जिस तरह अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग कर रहे हैं, उस पर भी गहरे अवलोकन हैं। उमादेवी ने जो आलोचना प्रस्तुत की, उसकी तुलना रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा चरखे और विदेशी कपड़ों की होली जलाने संबंधी आलोचना[7] से की जा सकती है। दोनों में गहरी मानवीयता, मानव को स्वयं ऊपर उठाने की चिंता, उसमें सचेत स्वतंत्रता भाव जगाने की आवश्यकता और मात्र विचारों व अंध-अनुकरण को निरर्थक या हानिकारक मानने का सशक्त संदेश मिलता है।

उमादेवी द्वारा गाँधी को अप्रैल, 1942 में लिखे पत्र के निम्नलिखित अंशों पर

@vaidicbooks

विचार करें–

भारत के जीवन को डेढ़ वर्ष तक निकट और ध्यान से देखने, लोगों से बात-चीत करने और उनकी भावनाओं, प्रवृत्तियों और मनोभावों को समझने के प्रयास के बाद मैं इन निष्कर्षों पर पहुँची जो जल्द ही मेरे विश्वास में बदल गए। वे हैं-

१. एक सार्वभौमिक नियम के रूप में अहिंसा व्यवहारतः प्रेम का नियम है, जिसे प्रत्येक मनुष्य को धीरे-धीरे स्वयं अपने अनुभव, कष्ट, दुःख और आत्मिक अन्वेषण से खोजना पड़ेगा।

२. इसे किसी के द्वारा बाहर से थोपा नहीं जा सकता। क्योंकि बिना स्वयं के अनुभव और विश्वास के इसे स्वीकार करने से लोगों के जीवन और कार्य में एक ओर तो दिखावा, आत्म-छलना, यहाँ तक कि पाखंड जैसे अनुचित तत्वों का प्रवेश हो जाता है तो दूसरी ओर एक उच्च आध्यात्मिक सिद्धांत विकृत होकर एक नारे में बदल जाता है जिससे लोग अपने क्षुद्र स्वार्थ और विचार साध ते हैं।

मुझे पक्के तौर पर लगता है कि एक निरावृत बुराई किसी पांखडी, दिखावे की अच्छाई से बेहतर है। एक खुली घृणा किसी भद्र आवरण में छिपी घृणा से कम खतरनाक है और जो मैं निरंतर देख रही हूँ, इस तरह का पाखंड आपके अनेक अनुयायियों में है। उनके द्वारा स्वीकार की गई अहिंसा केवल एक खेल है, किसी दूसरे हथियार की तरह एक हथियार, जिसे तब छोड़ दिया जाएगा जब कोई इससे अच्छा मिल जाएगा। यह एक आड़ का काम भी करती है, जिसमें स्वतंत्रता और गंभीरता से सोचने की अनिच्छा छिप जाती है, अपने कामों, विचारों आदि की जिम्मेदारी लेने से मुक्ति मिल जाती है। यह अपने दुश्मनों और 'विरोधियो' से स्वयं को श्रेष्ठ समझने का आसान बहाना भी बन जाता है, जिसके नीचे एक वितृष्णा होती है जो घृणा का ही एक रूप है।

यह सब मेरी दृष्टि में एक सिद्धांत को विकृत करना, एक आध्यात्मिक सत्य को नीचे गिराना ही है। यह लोगों के आंतरिक जीवन को मिथ्याचार से विषैला बना देता है। इस तरह भारत के जीवन-रक्त में एक विष फैल रहा है। .... अहिंसा और सत्य के नाम पर तीव्र घृणा और मिथ्याचार पोषित हो रहा है। नैतिक दृष्टि से देखें तो यह सचमुच भयंकर विपदा है।

यह ठीक है कि आप और आपकी अत्यंत लघु निकटतम मंडली के लिए अहिंसा एक खेल नहीं है। किंतु वे भी आत्म-छलना और मुझे कहने में हिचक नहीं - दुर्भावना (जो दूसरे शब्दों में) घृणा ही है....) से मुक्त नहीं हैं। इस दृष्टि से मैं यह सोचने का साहस करती हूँ कि आप भी इससे पूर्णतया मुक्त नहीं हैं, किन्तु चूँकि अहिंसा आपका आराध्य सिद्धांत है, इसलिए आप इसे जहाँ तक संभव हो, सही रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, दूसरों के साथ यह बात नहीं और आप, लगता है, इस भ्रम में हैं कि वे भी उसी आदर्श को ढूँढ रहे हैं। तथ्यों की गवाही कुछ और ही है।

.... यद्यपि सत्याग्रही लोग और उन्हें देखने वाली भीड़ ऊपर से शांत और अहिंसक लगती है, किंतु पूरे भारत में घृणा भाव इसके विविध रूपों में - दुराव, संदेह, क्रोध, दुश्मन को हानि पर खुशी, बदले की भावना, आदि-अतुलनीय मात्रा में बढ़ता जा रहा है।

इनके सबके बारे में लंबे समय से सोचती रही हूँ, इस कष्टदायक प्रश्न पर कि - सर्वोत्तम भावना से आरंभ किया गया आंदोलन, उच्च आदर्श, यहाँ तक कि एक अपरिवर्तनीय नियम के नाम पर चलाया गया आंदोलन, जिसने भारत के जीवन के कई पक्ष में उपलब्धियाँ भी प्राप्त की, अपने और मानवता के इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण क्षण में नैतिक रूप से इतने भयानक परिणामों में क्यों बदल गया है।

मैंने केवल एक ही उत्तर पाया हैः क्योंकि इस के मूल में असत्य है, बाहर से थोपा गया आदर्श, लोगों के लिए नितांत अपरिपक्ता, केवल शाब्दिक आडंबर व आत्म-छलना हो सकता है। और पाखंड ही बनता है। जब इसकी अपनी मूल्यवत्ता नहीं, बल्कि दूसरे उद्देश्यों के लिए इसका उपयोग होता है। इससे भी बढ़कर, हजारों बल्कि लाखों लोगों का विश्वास, जो आप में एक महात्मा, यहाँ तक कि अवतारी पुरुष देखते हैं, सच्चाई से मेल नहीं खाता, तो वह उनके क्रिया-कलापों और प्रवृत्ति को एक झूठा आधार प्रदान करता है। वे आपके शब्दों को दैव-वाण ी जैसा लेते हैं, उनका अंधअनुपालन करते हैं, बिना आपके बार-बार दुहराए गए इस कथन का कि आप केवल सत्य की खोज कर रहे हैं और आपकी स्वीकारोक्ति कि आप इसमें प्रायः विफल रहे है, पर ध्यान देते हैं।

मैंने अपने आपसे यह भी पूछा कि क्या (द्वितीय विश्व) युद्ध से पहले मैं आश्वस्त थी कि आपका अहिंसा का उपयोग सही है, कि आपका प्रयोग मानवता के लिए लाभकारी है, और क्या इस युद्ध ने मेरी आँखे खोल दीं और नग्न सच्चाईयों को दिखाया है, अहिंसा के सार्वभौमिक नियम होने के मरे अटल विश्वास के साथ, मैं तब भी आपके तरीकों का गंभीर अवलोकन कर रही थी, खुले दिमाग से उन्हें देख रही थी, इस कामना के साथ कि वे सही और उपयोगी साबित हों, कम से कम कुछ हद तक और किन्हीं परिस्थितियों में, लेकिन मैं तब भी उनकी रचनात्मक मूल्यवत्ता के बारे में आश्वस्त नहीं हो सकी थी। पहले मुझे विश्वास था कि वे तरीके मूलतः भारतीय हैं, अब मैं सोचने लगी हूँ कि गीता, रामायण आदि की शिक्षाएँ अधिक

गहराई से भारतीय हैं।
वास्तविक भारत अभी भी मौन है।

उपर्युक्त शब्द स्वयं भी प्रमाण हैं कि कितनी गहरी संवेदना और दीर्घ अवलोकन, चिंतन के परिणाम-स्वरूप उन्हें रखा गया है। यद्यपि कई गाँधीवादी इनकी तुरंत काट करने के लिए अधीर हो उठेंगे कि जो उमादेवी ने देखा वह सब कुछ स्वाभाविक कमियाँ हो सकती हैं, कि दूसरों की गलती को गाँधीजी के दर्शन और व्यवहार के मूल्यांकन में जोड़ना ठीक नहीं, आदि। किन्तु यदि स्वयं गाँधी द्वारा अहिंसा के सिद्धांत-व्यवहार पर दी गई दलीलों को सामने रख कर विचार करें, तब उमादेवी के अवलोकन की सच्चाई का पता चलता है। जैसे, ***हिन्द स्वराज*** (अध्याय 15) में एक स्थल पर गाँधी तर्क देते हैं कि विदेशी शासन को बलपूर्वक खत्म करने के उद्देश्य से भारतीय जनता को हथियारबंद करने में 'बहुत समय' और साधन लगेगा। उसकी तुलना में अहिंसा से वह कम समय और प्रयास से हो सकता है। यहाँ स्पष्टत: उपयोगितावाद का संकेत है, किसी अनिवार्य सिद्धांत होने का नहीं। यानी, यदि किसी तरह से जनता को जल्द हथियारबंद करने का उपाय हो जाए तो संभवत: उससे गाँधी को आपत्ति नहीं, यदि यह बात नहीं, तो उस दलील का अर्थ क्या है।

इसे नहीं भूलना चाहिए कि गाँधी ने किसी आध्यात्मिक संत के रूप में अहिंसा के वैयक्तिक प्रयोग की महत्ता का प्रतिपादन नहीं किया था। उन्होंने तो ठीक जनता के राजनीतिक उपयोग में लाए जाने के लिए ही उस पर जोर दिया था। तब उसी प्रयोग के भयंकर, अनैतिक परिणामों के संबंध में उमादेवी ने जो आकलन रखा है, उसे गाँधी की बुनियादी वैचारिक व राजनीतिक भूल के अतिरिक्त कुछ और कैसे कहा जा सकता है।

यह सब उमा देवी ने सन् 1941-42 में लिखा था। उनके पत्रों के सार की तुलना सन् 1921-22 में कही रवीन्द्रनाथ की बातों से करें, जो महात्मा गाँधी के चरखा-सिद्धांत और विदेशी कपड़ों की होली जलाने वाले कार्यक्रमों से संबंधित है, तब हम गाँधीजी के विचार और व्यवहार की कमियों में एक समान सूत्र पाते हैं जो आरंभ से ही यथावत् रही। यह सूत्र है, समस्या के बिना गंभीर आद्योपांत विवेचन के, मात्र कल्पना या निजी भावना से, समस्या और समाधन का अति-सरलीकरण। साथ ही, जो दूसरे लोगों के लिए भक्त, अनुयायी, सदैव ऊपर की और ताकने वाला और महात्मा के डिक्टेटर हो जाने के सिवा कोई भिन्न परिणाम संभव नहीं छोड़ता। आगे उसके तार्किक विकास स्वरूप, जब महात्मा न रहें या निष्क्रिय, निढाल हो जाएं, तब उस समाज के नितांत किंकर्तव्यविमूढ़ या नियंत्रण ाहीन होने के अलावा कुछ होना संभव ही नहीं। जिसे अनेक लोग ***हिन्द स्वराज*** का सरल संदेश और सरल भाषा कहते हैं, वह कई मामलों में सरलीकरण और हल्केपन का भी परिचायक है। केवल वह सुनने में भद्र लगती है, इसीलिए वह गहन भी है, ऐसा समझना भूल है।

उमादेवी का तीसरा पत्र 18 जुलाई, सन् 1942 लिखित है। यह उस वातावरण में लिखा गया है, जब द्वितीय विश्वयुद्ध तीखा हो रहा था और नाजी जर्मनी द्वारा ब्रिटेन पर हमले की संभावना प्रबल हो रही थी। ब्रिटेन मित्र राष्ट्रों में एक था जो नाजीवाद के विरुद्ध लड़ रहे थे। ऐसी स्थिति में गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस यहाँ ब्रिटिश-विरोधी आंदोलन छेड़ने की तैयारी कर रही थी। न केवल यह गाँधी के अब तक की विभिन्न सैद्धांतिक स्थितियों के विपरीत था (जैसे, 'कठिनाई में पड़े दुश्मन को न सताना', अथवा प्रथम विश्व-युद्ध में उसी ब्रिटेन के लिए भारतीय सैनिक भर्ती कराने का उत्साही सहयोग जब ब्रिटेन मजबूत और आक्रामक था, आदि) - बल्कि परिस्थिति को देखते हुए। 1942 में आंदोलन छेड़ना निर्मम और बहु-तरफा जन-संहार को निमंत्रण देना ही था। फिर, यह पूरी दुनिया के जनमत के विरूद्ध था, जो पहले किसी तरह हिटलर को हराना चाहता था। वैसी स्थिति में गाँधी द्वारा ब्रिटिश शासन के विरूद्ध 'करो या मरो' का मोर्चा खोलने का अर्थ अनचाहे हिटलर की मदद था, जो केवल नरसंहार ही कर रहा था।

गाँधीजी के आहवान 'करो या मरो' की भाषा में स्वयं हिंसा की गंध थी। बिना हिंसा के कोई आंदोलनकारी 'मर' कैसे सकता है, चाहे वह किसी तरफ से हुई हो। जब अंग्रेज अपनी ही देश-रक्षा की लड़ाई में परेशान थे, उस समय वे भारत में गाँधी के

आंदोलन से धैर्य या शांति से तो निपटते नहीं। अतः उस समय उग्र आंदोलन चौतरफा हिंसा को निमंत्रण के सिवा कुछ न था (वही हुआ भी)। इसीलिए उसके पक्ष में दिए गए गाँधी के तर्क भी अधिक विचित्र थे। पूरी दुनिया, और स्वयं कांग्रेस जनों ने भी उस आंदोलन को इसी रूप में समझा कि यह आंदोलन मौके का फायदा उठाने के लिए है, जब अंग्रेज हिटलर में फँसे-उलझे हुए हैं।

फिर विडंबना यह थी कि उस 'करो या मरो' के जुए में कांग्रेस की जीत से भारत की स्वतंत्रता के बदले यहाँ दूसरी विदेशी शक्ति - जर्मनी-जापान - का शासन होने की भी संभावना थी, ऐसी संभावना जिससे सब बड़े लोग अवगत थे, गाँधी भी, फिर भी वह 'हम जापानियों से अहिंसा से निपट लेंगे' की विचित्र दलील देकर आंदोलन पर अड़े हुए थे।

इस पृष्ठ-भूमि में उमादेवी द्वारा गाँधीजी को लिखे पत्र पर विचार करें-

'क्या ही दारुण आत्म-प्रवंचना है।

क्या आपको नहीं लगता कि भारत अभी एक बारूद-घर जैसा है- पहली ही चिंगारी विस्फोट पैदा करेगी, कौन उसे नियंत्रित करेगा, आप चिंगारियों से खेल रहे हैं, नहीं बल्कि स्वयं आग से। यदि यह केवल आपको या कुछ को जलाती तो आप यह प्रयोग कर सकते थे। लेकिन इस भयंकर हादसे में लाखों-लाख लोगों की आत्माएं और शरीर जा सकते हैं। पीड़ा अंतहीन होगी। और यह सब सत्य और अहिंसा के नाम पर .... किसी विद्रोह को भड़काना आसान है, पर उसे नियंत्रित करना नहीं।

मैं जानती हूँ कि क्रांति क्या होती है। मैंने पहले शांतिपूर्ण क्रांति को देखा है, लगभग एक धार्मिक पुट लिए हुए, मॉस्को की सड़कों पर और वही बाद के चरणों में किस दरिंदगी में बदल गई। जिसने अपनी आँखों से नहीं देखा वह उस पर विश्वास नहीं कर सकेगा। मैंने उसे देखा है। ....

एक दूसरा दारुण बिंदु भी है - चाहे आप उसे कितना भी नापसंद करें। यह तथ्य है कि हजारों लोग आपको एक आध्यात्मिक सत्ता, एक गुरु के रूप में देख रहे हैं, जिनके आंतरिक निर्देश पर उन्हें विश्वास है। .... क्या आपका नैतिक दायित्व किसी सामान्य राजनीतिक की तुलना में सौ गुना अधिक नहीं हो जाता, तब आप उन्हें कहाँ ले जा रहे हैं।'

इसका उत्तर दिया जाता है कि गाँधी तब नहीं जानते थे, कि वे देश को विभाजन, लाखों लोगों को वध-स्थल और अन्य लाखों को हृदय-हीन शरणार्थी-शिविरों की ओर जा रहे हैं। बिना उस समय के संपूर्ण परिदृश्य-मुस्लिम लीग का पाकिस्तान आंदोलन, उसके लिए हो रहे हिंसक आह्वान, उसके शमन के प्रति कांग्रेस नेताओं की उदासीनता, पंजाब और बंगाल की जनता की निश्चितता या संभ्रम, तथा स्वयं गाँधी का दुविधा-ग्रस्त मन - इन सबको बिना सामने रखे यहाँ तक कहा जा सकता है कि विभाजन के जिम्मेदार कोई और हैं, गाँधी या उनकी नीतियाँ नहीं। किंतु इससे बड़ा पलायनवाद कुछ और नहीं हो सकता। जिस गाँधी ने लोगों को आश्वासन दे रखा था कि विभाजन उनकी लाश पर होगा, जो गाँधी यह मानकर चलते थे और दूसरों को चलाते थे कि हिंसक के विरुद्ध अहिंसक रूप में खड़े रहना सदैव कल्याणकारी है, उनकी नीति को विभाजन और तद्संबंधी नर-संहार की जिम्मेदारी से मुक्त करना बुद्धिहीनता या बौद्धिक कायरता ही होगी।

दूसरे, ऊपर रवीन्द्रनाथ टैगोर के जिन निबंधों का उल्लेख है, उन्हें पढ़कर स्पष्ट होगा कि भारतीय समाज की वास्तविक समस्या कहाँ थीं जिन पर ध्यान न देकर, बाह्याचारों, सरल नारों पर स्वयं और समाज को केंद्रित किए रहने से सन् 1946-47 में भारत की वह दुर्गति हुई जिसकी पूरी कल्पना कोई नहीं कर सका था। आसानी के रास्तों से कोई सफलता पा लेने की दुराशा और उसके बुरे आनुषंगिक परिणामों के विरूद्ध ही रवीन्द्रनाथ ने चेतावनी दी थी। वे दार्शनिक और कवि थे, इसलिए उन्होंने मूल सत्य की ओर ध्यान खींचा था। स्वराज्य के लिए राष्ट्रीय एकता चाहिए थी, पर वह कैसे बनेगी, इसी पर गाँधी को सबसे गहरा भ्रम था।

सचमुच एकता बनने के लिए सामुदायिक समकक्षता- हिन्दुओं और मुसलमानों की सामाजिक शक्ति समकक्ष बने - की शर्त को रवीन्द्रनाथ ने रेखांकित किया था। वह वैसे नहीं बन सकती कि एक समुदाय दबंग हो, सदैव मरने-मारने पर उतारू, जबकि दूसरा सदैव अपनी जान बचाने या मुँह चुराते हुए भीरु[8] केवल इस आस में लगा कि वैसी नौबत न आए। रवीन्द्रनाथ के अनुसार इस सामाजिक वैपरीत्य के साथ समस्या बनी रहेगी। यदि

दोनों समुदाय 'सामाजिक बल' में समकक्ष रहें, तभी वास्तविक एकता होगी। न कि उनके नेता मंच पर एकता कर लें राजनीतिक कार्यक्रमों में साझा कर लें, कुछ बड़ी उदघोषणाएं हो जाएं, एक पक्ष दूसरे की जरूरत में मदद कर दें, आदि। रवीन्द्रनाथ ने यह बातें इस्लामी खिलाफत आंदोलन, जिससे गाँधीजी ने कांग्रेस को जोड़ दिया था, उसके दौरान हुई भीषण घटनाओं के संदर्भ में कही थी। किंतु उन्होंने एक सामान्य और सैद्धांतिक सत्य रखा था, जिसकी गाँधी जी ने उपेक्षा की। ***हिन्द स्वराज*** में और अहिंसा संबंधी उनके वक्तव्यों में इसे देखा जा सकता है, किंतु पहले 1905-09, फिर सन् 1920-24 के बीच वही प्रवृत्तियाँ प्रखर हुई थीं जिन्होंने सन् 1946-47 में बलपूर्वक देश को तोड़ कर रख दिया। गाँधी का अहिंसा सिद्धांत उन प्रवृत्तियों के समक्ष निष्फल साबित हुआ।

सैद्धांतिक मूल्यांकन - दो (राम मनोहर लोहिया की दृष्टि में)

जहाँ उमादेवी ने हमें छोड़ा, वहाँ से आगे हम राममनोहर लोहिया के सहारे चल कर देख सकते हैं। लोहिया न केवल गाँधी जी के विचारों, संभाषणों तथा उस काल की घटनाओं के प्रत्यक्ष अवलोकनकर्ता थे, बल्कि सक्रिय नेता के रूप में गाँधी समेत कांग्रेस की पूरी स्थिति के प्रामाणिक गवाह भी थे। स्वयं स्वतंत्र चिंतक होने और स्पष्ट-भाषी होने के कारण लोहिया के विश्लेषण से उस विषय को समझने में अतिरिक्त मदद मिलती है, जिस की यहाँ चर्चा हो रही है। इसीलिए भारत विभाजन के प्रसंग में अहिंसा के मूल्यांकन के लिए लोहिया का लेखन समीचीन है।

लोहिया कहते हैं कि वे गाँधी को विभाजन का मुख्य जिम्मेदार नहीं मानते। लेकिन जिन तत्वों को वे जिम्मेदार मानते हैं वह पूरे गाँधी दर्शन की धज्जी उड़ा देता है, चाहे लोहिया ने इस रूप में उसे नहीं देखा। पर देखिए, वह 'मुख्य दोषियों' में किनको मानते हैं-

इतिहास की विशाल निर्वैयक्तिक शक्तियाँ, कन्नौज के बाद हिन्दुओं का पतन, हिन्दुस्तान के इस्लाम की अंधी आत्मघाती कट्टरता, ब्रितानी साम्राज्यवाद की आखिरी साजिश, और सबसे अधिक समर्पण और समझौते की वह दीन भावना भी, जिसे समन्वय और सहिष्णुता कहा जाता है, और जो मुख्य रूप से जाति-व्यवस्था के कारण हैं।[9]

रवीन्द्रनाथ ने अपने निबंध 'समस्या' में जो बातें कही हैं, उसमें भी वही संकेत है कि हिन्दू समाज विखंडित और दुर्बल है। उन्होंने उदाहरण दिया है कि सीमा-प्रांत (अब पाकिस्तान) में हिन्दु बस्तियों पर हमला कर पठान आक्रमणकारी स्त्रियों को उठा ले जाते थे तो हिन्दु चुप चाप यह अत्याचार देखते थे। एक बार किसी अफसर ने किसी से पूंछा, 'ऐसा अत्याचार तुम कैसे सहते हो, तो उन्हें उत्तर मिला, 'वह तो बनिए की लड़की थी।' यानी, जातिगत भेद की दुर्बलता से हिन्दु संगठित होकर प्रतिकार नहीं करते। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में, ''बनिए की लड़की हिन्दु है, उसके अपहरण के प्रति उदासीन व्यक्ति भी हिन्दु है। एक पर आघात होता है तो दूसरे के मर्म तब आवाज नहीं पहुँचती।[10] (क्या आज भी कश्मीर, केरल या असम के हिन्दुओं के लिए शेष भारत के हिन्दुओं, तथा दिल्ली के नेताओं की स्थिति वही नहीं है।) यह केवल जाति भेद की दुर्बलता नहीं थी, अनेक के लिए वह सामान्य कायरता छिपाने का बहाना भी था, अस्तु।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिन्हें लोहिया मुख्य दोषी बताते हैं, ठीक इन्हीं शक्तियों के अस्तित्व से गाँधी इनकार करते रहे, मानो सामने केवल एक हिन्दु और एक मुसलमान हो तथा पृष्ठ-भूमि का समाज, सहज, शांत रहने की सलाह देकर वह इतिश्री कर लेते हैं अर्थात् गाँधी उस ऐतिहासिक, सभ्यतागत समस्या को देखना ही नहीं चाहते (चाहे वह इससे अवगत थे, अन्यत्र उन्होंने इस के कई संकेत किए हैं) जो देश में सदियों से मौजूद थी, और देशवासियों को कष्ट दे रही है। तब ***हिन्द स्वराज*** और उसका अक्सीर-अहिंसा, उसका समाधान कैसे दे सकता था, जिस समस्या को वह नोट ही नहीं करता।

रवीन्द्रनाथ और लोहिया (हम इन्हें मात्र उदाहरण के लिए ले रहे हैं) दो नितांत भिन्न भाव-भूमि और कर्म-क्षेत्र के अवलोकनकर्ता, ने उसे देखा ही नही, उसकी गंभीर भूमिका को भी समझा। इसी अर्थ में लोहिया का आंकलन पूरे गाँधी-दर्शन के विरुद्ध खड़ा दिखता है जो 'निर्वैयक्तिक शक्तियों, 'इस्लाम की अंधी कट्टरता', हिन्दू दीनता, जिसे समन्वय और सहिष्णुता कहा जाता है, को नोट ही नहीं करता। ***हिन्द स्वराज*** खंगाल लें, न

केवल उसमें यह नहीं है बल्कि वह इसके विपरीत काल्पनिक चीजों को पेश कर उसी पर हमें केंद्रित रहने के लिए कहता है। तब (आगे विभाजन और संहार की) सबसे जिम्मेदार शक्तियों के प्रति हमें भरमा कर ***हिन्द स्वराज*** ने क्या भूमिका निभाई, भक्त गाँधीवादी इसे नहीं देखना चाहते, तो अपने समुदाय की उस मन:स्थिति की पुष्टि ही करते हैं। जिसका रवीन्द्रनाथ, लोहिया और अनेक चिंतकों ने तब से आज तक उल्लेख किया है।

विभाजन के लिए सीधे गाँधी को जिम्मेदार न मानते हुए भी लोहिया ने जिस बात के लिए केवल गाँधी को दोषी ठहराया है, वह अहिंसा से ही जुड़ा प्रसंग है। विभाजन से ''दंगे होंगे, ऐसा तो उन्होंने समझ लिया था, लेकिन जिस जबर्दस्त पैमाने पर दंगे वास्तव में हुए, उसका उन्हें अनुमान न था इसमें मुझे शक है। अगर ऐसा था, तब तो उनका दोष अक्षम्य हो जाता है। दरअसल उनका दोष अभी भी अक्षम्य है। अगर बँटवारे के फलस्वरूप हुए हत्याकांड के विशाल पैमाने का अन्दाज उन्हें सचमुच था, तब तो उनके आचरण के लिए कुछ अन्य शब्दों का इस्तेमाल करना पड़ेगा।''[11] लोहिया ने यह सन् 1967 में लिखा था। स्पष्टत: गाँधी के प्रति सम्मान को ध्यान रखते हुए उन्होंने उन शब्दों का उल्लेख नहीं किया जो उनके मन में आए होंगे, किंतु वह शब्द छल, अज्ञान, हिन्दुओं के प्रति विश्वासघात,[12] बुद्धि का दिवालियापन, जैसे ही कुछ हो सकते हैं।

लोहिया वाङ्मय में यह बात बार-बार आती है कि 'कन्नौज के पतन' के बाद, यानी भारत के अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान की पराजय के बाद से बार-बार बाहरी आक्रमणकारियों से पददलित होकर उनकी अधीनता में रहते आने से हिन्दुओं में वह भीरूता, कायरता, राजनीतिक जिम्मेदारी से भागने की प्रवृत्ति आदि बैठ गई है, जिसे ''समन्वय और सहिष्णुता'' का झूठा नाम दिया जाता है। लोहिया इसे भारत की समस्याओं में बहुत महत्त्वपूर्ण कारके मानते थे। गाँधीजी के दोष की चर्चा में भी वे कहते हैं, ''सदियों के इतिहास के जरिए राष्ट्र ने समर्पण और समझौते की दीन भावना प्राप्त की है, जिसे समन्वय की संस्कृति का गलत नाम दिया जाता है''।

ठीक यहीं लोहिया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं जिसे संभवत: किसी अन्य भारतीय विद्वान या नेता ने नही कहा कि यदि भारत के नेता, मुख्यत: गाँधी विभाजन को डटकर अस्वीकार कर देते, तो सदियों से हमारी मानसिकता में जमी वह दीनता खत्म हो जाती। लोहिया के शब्दों में ''बँटवारे की वेदी पर बलिदान के उस एक क्षण में राष्ट्र उसे उतार फेंकता। यह इतना साहसपूर्ण और दूरदर्शी अवलोकन है कि हमारे बौद्धिकों, लोहियावादियों द्वारा भी, इसे नोट न किया जाना आश्चर्यजनक है। उससे आगे लोहिया जो कहते हैं वह वर्तमान भारत के प्रभावी सेक्यूलरवाद'नेहरूवाद के लिए नितांत अप्रिय है। देखिए: ''देश का विभाजन और गाँधीजी की हत्या एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक पहलू की जाँच किए बिना दूसरे की जाँच करना समय की मूर्खतापूर्ण बर्बादी है।'' दुर्भाग्यवश, यह मूर्खतापूर्ण बर्बादी ही हमारे देश के बौद्धिक परिदृश्य की विशेषता बन गई है, जिसमें ''गाँधी के हत्यारे'' कहकर जिस किसी को निंदित किया जाता है, जबकि विभाजन की विभीषिका से उसके संबंध की कभी चर्चा नहीं होती। क्योंकि यह हिन्दू लेखकों, विद्वानों, नेताओं की उस अंतर्निहित दीनता और समर्पण के लिए आड़ का काम करती है जिस पर लोहिया सिर धुनते रहे थे।

अहिंसा के प्रश्न पर देश-विभाजन के प्रसंग में एक कारुणिक निष्कर्ष यह है कि कई बार किसी घाव का ऑपरेशन करके ही अधिक शारीरिक हानि को रोका जाता है। उसमें रक्त बहना रोगी को कष्ट पहुँचाना नहीं, बल्कि निरोग करने के लिए होता है। यदि विभाजन को डटकर अस्वीकार किया गया होता, यदि हिन्दुओं को अपना सामाजिक बल मुसलमानों के समकक्ष करने का सचेतन संदेश दिया गया होता, न कि सदैव झुक कर सदभाव बनाने, 'हिंसा रोकने'' का दीन उपाय - तो वह हिंसा होती ही नहीं, जिसे कथित रूप से रोकने के लिए विभाजन स्वीकार कर लिया गया था। यह उपाय पहले भी कई बार खिलाफत नेताओं तथा मुस्लिम लीग की विभिन्न अंहकारी, विशेषाधिकारी माँगें स्वीकार करते हुए किया जा चुका था। यदि अहिंसा के नाम पर अधर्म, अन्याय सहना और कायरता नहीं सिखाई गई होती, तो सन् 1919 से लेकर आज तक उतनी हिंसा नहीं होती, जो हुई है। यह रवीन्द्रनाथ और लोहिया के विचारों का वह निष्कर्ष है जो हमें स्वयं

निकालना चाहिए।

संदर्भः-

1. दादा भाई नौरौजी और रमेशचंद्र दत्त की पुस्तकें ब्रिटिश राज का आर्थिक विश्लेषण हैं, हिन्द स्वराज के दर्शन से संबद्ध कुछ भी उनमें नहीं है। शेष सभी अठारह पुस्तकें दार्शनिक रचनाएं हैं जो सभी पश्चिमी चिंतकों की हैं।

2. गुजरात राजनीतिक परिषद् में भाषण, गोधरा, 3 नवंबर, 1917

3. उहारण के लिए देखें, 'गुजरात राजनीतिक परिषद् में भाषण, 3 नवंबर 1917

4. चर्खे को 'भविष्य के भारत की सामाजिक व्यवस्था' का आधार बनाने की बात गाँधी 1940 में भी करते थे। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा की गई गुरु-गंभीर आलोचनाओं (देखें, इनका ''स्वराज साधना'' शीर्षक लेख) के बीस वर्ष बाद भी, बिना उसका कहीं उत्तर दिए।

5. ए. बी. पुराणी इविनिंग टॉक्स विद श्रीअरविन्दो (पांडिचेरी : श्रीअरविन्द आश्रम, 1995), पृ0 52-53

6. उमा देवी, द वार : थ्री लेटर्स टु गाँधीजी (कलकत्ता : द कलकत्ता पब्लिशर्स, 1941), इसमें उन तीन पत्रों के अतिरिक्त उमादेवी द्वारा लिखित एक लंबा परिचय भी है।

7. देखें, रवीन्द्रनाथ के 'सत्य का आह्वान', 'समस्या', 'स्वराज साधना'। यह सभी 1921-25 के बीच लिखे गए थे। यदि इन्हें पढ़कर संबंधित बिन्दुओं पर हिन्द स्वराज की वैचारिकता से तुलना करें तो गाँधीजी की रचना चिंतन और गहराई में निस्संदेह फीकी लगती है। रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-1 (अनु0 - विश्वनाथ नरवणे), (दिल्ली : साहित्य अकादमी, 2009, पुनर्मुद्रण)

8. इस सत्य को गाँधी सहित अनेक नेताओं, विचाराकों ने नोट किया था। चाहे राजनीतिक या अन्य कारणों से इस पर आवश्यक चर्चा नहीं होती थी। पर उसी कारण उसके लिए उपाय करने की चिंता नहीं हुई। यह गाँधी ने ही कहा था : ''तेरह सौ वर्षों के साम्राज्यवादी विस्तार ने मुसलमानों को एक वर्ग के रूप में योद्धा बना दिया है। इसलिए वे आक्रमण होते हैं। .... हिन्दुओं की सभ्यता बहुत प्राचीन है। हिन्दु मूलतः स्वभाव से अहिंसक होता है। इस प्रवृत्ति के कारण उनमें हथियारों का प्रयोग करने वाले कुछ ही होते हैं। उनमें आम तौर पर हथियारों के प्रयोग की प्रवृत्ति नहीं होती, जिसेसे वे कायरता की हद तक भीरू होते है।'' (यंग इंडिया, 30 दिसंबर 1927)

9. राम मनोहर लोहिया, ''गाँधीजी के दोष'', समता और सम्पन्नता (इलाहाबाद : लोकभारती, 1992), सं0 - ओंकार शरद पृ0 208

10. रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'समस्या', रवीन्द्रनाथ के निबंध, भाग-1,(दिल्ली : साहित्य अकादमी, 2009)

11. लोहिया, ऊपर संदर्भ 9, पृ0 209

12. खिलाफत आंदोलन वाले दौर के बाद गाँधी ने स्वयं इन शब्दों का प्रयोग किया था। महादेवी भाई के समक्ष वर्ष 1924 में गाँधी कहते हैं, 'मेरी भूल? हाँ मुझे दोषी कहा जा सकता है कि मैंने हिन्दुओं से विश्वासघात किया।..........'। वस्तुतः यह उन्होंने 1947 में पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल के हिन्दुओं के साथ और भी भयावह पैमाने पर किया। इसे विश्वासघात कहना इसलिए भी उचित है, क्योंकि 1917-18 में अंग्रेजी सेना के लिए सैनिक भर्ती कराने वाले दौर में गाँधी ने अत्याचार और बलात्कार से रक्षा हेतु शस्त्र उठाना उचित बताया था। (देखें, ''गुजरात राजनीतिक परिषद् में भाषण', गोधरा, 3 नवंबर 1917) किंतु वैसी ही परिस्थिति में, संगठित मुस्लिम गुंडा या भीड़ से रक्षा हेतु हथियार उठाने के विकल्प को ये साफ खारिज करते रहे।

@vaidicbooks